

॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

सत्य-विवेक प्रकरण

दिनं तृतीयमद्याभूत्सत्संगस्य यथाविधि ।
यथापूर्वं शुभोत्साहयुक्तवातावृतौ पुनः ॥ १ ॥
गोष्ठ्या अद्यतनायाश्च शुभारंभो ह्यभूदयम् ।
आप्तुममृतवर्षां तु उत्सुकाः सर्व एव हि ॥ २ ॥
कौण्डिन्यः प्रश्नकर्ता स पप्रच्छाद्यतनो मुनिः ।
पूर्वोक्तानां तु युग्मानां विषये बुद्धिमत्तमः ॥ ३ ॥

टीका—संत समागम का आज तीसरा दिन था। नित्य की भाँति उत्साह भरे वातावरण में आज की ज्ञान गोष्ठी का

शुभारंभ फिर हुआ। सभी इस अमृतवर्षा को अधिक अपना लेने के लिए उत्सुक हो रहे थे। आज के प्रश्नकर्ता बुद्धिमान कौण्डिन्य मुनि के पूर्वोक्त युग्मों के संबंध में पूछा ॥ १-३ ॥

कौण्डिन्य उवाच

संगतिः काऽनयोरत्र देव सत्यविवेकयोः ।
तयोर्युग्मेन धर्मस्य पञ्चमस्य कथं शुभा ॥ ४ ॥
क्रियते चरणस्थैषापूरतिरेतद् विविच्यताम् ।
भवता विस्तराद् येन धर्मरूपं नरो ब्रजेत् ॥ ५ ॥

टीका—कौण्डिन्य बोले, हे देव सत्य और विवेक की परस्पर क्या संगति है? उन दोनों का युग्म किस प्रकार धर्म

२.१४ प्रज्ञोपनिषद्

के पाँच चरणों में से एक की पूर्ति करता है, सो उसका विस्तार पूर्वक विवेचन करें, जिससे धर्म का रूप मनुष्य समझ सकें ॥ ४-५ ॥

व्याख्या—पिछले दिनों महामानवों के विकास के लिए धर्म की आवश्यकता तथा धर्म के ऐसे लक्षण बतलाए गए थे, जो प्रत्येक धर्म-संप्रदाय में समान रूप से विद्यमान हैं। उन्हीं लक्षणों में से प्रथम युगम का विस्तार करने का आग्रह विचारवान् श्रोताओं की ओर से किया गया।

आश्वलायन उवाच

सत्यस्यार्थस्तु श्रेयोऽस्ति यदाचारे निगूहितम्।

तिष्ठति, भ्रमस्वार्थौ तौ स दुराग्रह एव च ॥ ६ ॥

स्वरूपं नौत्सहंते ते प्रत्यक्षं तस्य निर्गतम्।

भित्वा चावरणं गन्तुं याथार्थ्यं दूरदर्शिनः ॥ ७ ॥

वैपरीत्येन वाप्येतत्सत्यमास्ते तिरोहितम्।

मान्यतानां विभिन्नानां पारंपर्यस्य कारणैः ॥ ८ ॥

भिन्नस्याज्ञानहेतोश्च सत्यं भिन्नं प्रभासते।

अतो विवेकपूर्वं च गहनं परिचीयते ॥ ९ ॥

टीका—आश्वलायन ने कहा, सत्य का अर्थ श्रेय। वह आवरणों से ढका रहता है। भ्रम, स्वार्थ और आग्रह उसका यथार्थ स्वरूप प्रकट नहीं होने देते। दूरदर्शिता से इन आवरणों को वेधकर यथार्थता तक पहुँचने की आवश्यकता पड़ती है। विभिन्न स्तरों की मान्यताओं, परंपराओं के कारण सत्य आवरणों में छिपा होता है। अज्ञान के कारण भी कुछ से कुछ भासता है, इसलिए विवेकपूर्वक गहराई में उतरना पड़ता है ॥ ६-९ ॥

व्याख्या—सत्य का स्वरूप छिपाने वाले तीन आवरण भ्रम, स्वार्थ और आग्रह कहे गए। भ्रम के अंतर्गत जानकारी का अभाव, एकांगी जानकारी, गलतफहमियाँ एवं तत्काल के आकर्षण आदि प्रकरण आते हैं।

स्वार्थ में औचित्य को छोड़कर अपने पराए का भाव, व्यापक हित की जगह सीमित का लाभ, दूसरे की श्रम प्रतिभा जैसी विभूतियों पर अपनी छाप डालना आदि सम्मिलित रहते हैं। इसे संकीर्णता भी कह सकते हैं।

आग्रह के अंतर्गत परंपरावश, अभ्यासवश, भयवश, प्रमादवश, अहंकारवश दूसरे पक्ष को न देखने की प्रवृत्तियाँ आती हैं। इसे दुराग्रह भी कह सकते हैं।

यह सभी सत्य से दूर रखने वाली वृत्तियाँ हैं, अतः विवेक का अभ्यास ही इनको भेदकर सत्य का बोध कराता है।

सत्य प्रत्यक्ष दृश्यमान होते हुए भी मायाजाल में उलझा होने के कारण सामान्यतया प्रकाश में नहीं आ पाता। यह एक विडंबना भी है और विवेकवानों के लिए एक परीक्षा भी।

यह सत्य है, कि भारतीय संस्कृति देव संस्कृति है और

हमारा वास्तविक हित उसी के अनुगमन से होगा पर पश्चिमी भौतिकवादी भोगवाद की लहर हमें अधिक उपयोगी दिखाई देती है, यह एक भ्रम है।

यह सत्य है कि हर घर में बेटे भी हैं और बेटियाँ भी। बेटियों के संबंध का प्रश्न आता है, तो लोग बन जाते हैं सिद्धांतवादी। पर जब बेटे का प्रश्न आता है तब दहेज की आकांक्षा करने लगते हैं। सत्य की यह उपेक्षा स्वार्थजन्य है।

यह सत्य है कि परिवार निर्माण में नारी की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण है, इसलिए उसे योग्यता तथा सम्मान दोनों दिए जाने चाहिए। किंतु परंपरागत आग्रह के कारण उसे मानते हुए भी क्रियान्वित नहीं किया जाता। यह सत्य पर आग्रह का आवरण है।

सत्यभागं वचः सत्यं मन्यते यादृशं श्रुतम्।

दृष्टं वा विद्यते यच्च कर्तव्यं तद्विना छलम् ॥ १० ॥

यथार्थतोऽस्य प्राकट्यं सत्यमत्राभिधीयते।

सीमामिमां समुल्लंघ्य यान्त्यग्रे तत्त्वदर्शिनः ॥ ११ ॥

सत्यं यथार्थतैवेति श्रेयो भावत्वमेव च।

सद्भावभरितश्रेयः साधनायै च कर्म यत् ॥ १२ ॥

कथितं च वचः सत्यं विद्यते तत्परं भवेत्।

बालबोधाय च प्रोक्तमलंकारधियाऽपि वा ॥ १३ ॥

टीका—सत्य वचन को सत्य का एक अंग मानते हैं। जैसा सुना-देखा या किया जाता है, उसे बिना छल किए यथार्थ रूप में प्रकट कर देना सत्य का मोटा स्वरूप है, पर तत्वदर्शी लोग इस परिधि से आगे जाते हैं कि यथार्थता ही सत्य है। श्रेय भावना सत्य है। सद्भावनापूर्ण श्रेय साधना के लिए किए गए कृत्य और कहे गए वचन भी सत्य हैं। भले ही उन्हें बालबोध के लिए आलंकारिक ढंग से हेर-फेर करके भी कहा गया हो ॥ १०-१३ ॥

व्याख्या—सत्य का मोटा स्वरूप सबकी समझ में सहज ही आ जाता है। सत्य का सूक्ष्म स्वरूप कठिनाई से समझ में आता है। दोनों समझे बिना सत्य अधूरा रह जाता है। तत्वदर्शी सूक्ष्म तत्व को अधिक महत्व देते हैं, इसीलिए विवेक पूर्वक सत्य की उस गहराई तक जाने का आग्रह करते हैं।

कहानीकार और कवि के कथन में सत्य कम, कल्पना अधिक होती है। पर वे झूठे नहीं कहलाते। अपनी कल्पना के आधार पर जीवन के उन सत्यों को स्पष्ट कर देते हैं, जिसे वैसे समझना या समझाना कठिन होता है।

श्रेष्ठ चिकित्सक परिस्थितियाँ देखकर रोगी को कभी उसके छोटे असंयम से भी बड़े नुकसान की बात कहकर भयभीत कर देते हैं। कभी कठिन रोगों को भी सामान्य कहकर उनका मनोबल बनाए रखते हैं। यह सब उद्देश्य और सद्भाव को देखते हुए झूठ की सीमा में नहीं आता।

मनोवैज्ञानिक मनोरोगियों के साथ तथा कुशल अभिभावक और शिक्षक बालकों के साथ ढेरों बनावटी शब्द प्रयोग में लाते हैं पर वे सभी श्रेय तत्त्व के नाते श्रेष्ठ सत्य माने जाते हैं।

संबद्धताऽनयोस्ति मुने सत्यविवेकयोः ।

परस्परं भवेदेको यत्र तत्रैव चापरः ॥ १४ ॥

विवेकेनैव सत्यस्य स्वरूपं ज्ञायते तथा ।

तदाश्रित्यैव सत्यस्य प्राप्त्यै च प्रक्रमेन्नरः ॥ १५ ॥

ग्रस्तः पूर्वाग्रहैर्मन्यो भवत्येव स्वभावतः ।

पारंपर्यस्य वंशस्य वातावरणकस्य च ॥ १६ ॥

संस्काराणां च हेतोस्ता मान्यतास्तस्य व्यक्तिगाः ।

स्वभावं यांति ता एव सर्वस्वं मन्यते च सः ॥ १७ ॥

टीका—सत्य और विवेक परस्पर जुड़े हुए हैं। जहाँ एक होगा वहाँ दूसरा भी रहेगा। विवेक से सत्य का स्वरूप समझा और उसके सहारे सत्य की प्राप्ति के लिए आगे बढ़ा जाता है। मनुष्य स्वभाव से ही पूर्वाग्रहों से ग्रसित होता है। वंश परंपरा, वातावरण और संचित कुसंस्कारों के कारण उसकी कुछ अपनी मान्यताएँ और आदतें बन जाती हैं। वह उन्हीं को सब कुछ मान लेता है ॥ १४-१७ ॥

व्याख्या—सत्य और विवेक एक सिक्के के दो पहलू हैं और एक गाड़ी के दो पहियों की तरह हैं। सत्य के लिए विवेक का सहारा चाहिए तथा विवेक की सार्थकता सत्य तक पहुँचने में ही है। मनुष्य में पूर्वाग्रह के तीन कारण बतलाए गए हैं।

(१) वंश परंपरा के आधार पर कुछ मान्यताएँ बन जाती हैं। जातिगत छोटे-बड़े की मान्यता वंश परंपरा के आधार पर है। अपने से भिन्न वंश के श्रेष्ठ गुण वालों को भी अपने से हीन सिद्ध करने का मन इसी आधार पर होता है। अनेक अलन-चलन कुरीतियाँ यह सब वंश परंपरा पर आधारित हैं।

(२) वातावरण जन्य पूर्वाग्रह भी सत्य से दूर रखे रहते हैं। जो सुख में पले हैं, वे किसी दुःखी या भूखे की मजबूरी नहीं समझ पाते। दरिद्रता में पले व्यक्ति संपन्नों के उत्तरदायित्वों के बारे में कोई सद्भाव नहीं रखते। भीड़ में सामूहिक लहर उठती है, तो समझदार भी तोड़-फोड़ करने लगते हैं। उस माहौल के बाहर आते ही विचार काम करने लगता है।

(३) संचित संस्कार-अभ्यास। यह बिल्कुल व्यक्तिगत आग्रह होता है। जिसे व्यंग्य करने का अभ्यास है, उसे यह नहीं समझ पड़ता, कि लोग अकारण बुरा क्यों मान जाते हैं। खरचीले हाथ वाला मितव्ययिता के लाभ नहीं समझना चाहता और कंजूस उदारता से बचकर रहना चाहता है। आलसी श्रम की महत्ता को, क्रोधी शालीन व्यवहार को, आवारा समय के महत्त्व को झुठलाते ही रहना चाहते हैं, इस स्तर के सभी

अभ्यासगत पूर्वाग्रह किसी न किसी सत्य को नजरंदाज करते रहते हैं।

प्रतिपादनमन्येषां तथा तेऽनुभवा अपि ।

अयोग्या हि प्रतीयन्ते तेन चाग्रहिणो नराः ॥ १८ ॥

सत्यं स्वमान्यतां यावन्मन्यते सीमितं परम् ।

अपेक्ष्याऽन्योक्तिव्याख्यैव ज्ञातुं रूपं च तस्य तु ॥ १९ ॥

विवेकिनो भवन्त्येव न्यायाधीशा इव स्वतः ।

निष्पक्षा आग्रहैर्हीना औचित्या श्रयिणोऽभ्याः ॥ २० ॥

स्वीकारे च त्रुटेः स्वस्या संकोचं नाश्रयन्ति ते ।

नाग्रहश्च समग्रस्य स्वस्य तेषां मतस्य च ॥ २१ ॥

टीका—ऐसे व्यक्ति को दूसरों के प्रतिपादन और अनुभव गलत प्रतीत होते हैं। ऐसी दशा में आग्रही मनुष्य अपनी ही मान्यता तक सत्य को सीमित मानता है। जबकि उसका समग्र स्वरूप जानने के लिए अन्यान्य कथनों पर विचार किए जाने की आवश्यकता है। विवेकशील न्यायाधीश की तरह निष्पक्ष होते हैं, आग्रही नहीं होते। जहाँ जितना औचित्य परिलक्षित होता है, उसे बिना संकोच के स्वीकार करते हैं। ऐसे लोगों को न भूल मानने में संकोच होता है और न अपने मत के समग्र होने का ही आग्रह होता है ॥ १८-२१ ॥

व्याख्या—मानवी अचेतन कुछ इस प्रकार ढला हुआ है कि अपने मत के पक्ष में वह अनेकों प्रमाण जुटा लेता है एवं दूसरों के सही प्रतीत हो रहे मंतव्यों को भी सहज स्वीकारता नहीं। किसी भी तथ्य को समझने के लिए उसके हर पहलू पर विचार किया जाना चाहिए। एकांगी चिंतन तो संकीर्ण बुद्धि की तरह है। कुएँ में बैठे मेंढक को अपने चारों ओर की दुनिया ही सब कुछ लगती है। ऐसे कूपमंडूक मनुष्यों में भी विद्यमान होते हैं, जो अपने इक्कड़पन सोचने की पूर्वाग्रहयुक्त आदत के कारण अन्यान्य व्यक्तियों के मतों को हँसी में उड़ा देते हैं, भले ही प्रकारांतर से वह उनके हित में ही क्यों न जाती हो। जो समझदार होते हैं, वे इतने विनम्र होते हैं कि गलती बताई जाने पर भी क्षुब्ध नहीं होते, अपितु ऐसों के प्रति कृतज्ञता ही जताते हैं। सर्वांगपूर्ण प्रगति का रहस्य ही यही है कि अपने को पूरी तरह खाली रखा जाए, पक्ष एवं विपक्ष दोनों मतों को सुनने समझने का विवेक विकसित किया जाए।

व्यक्ति को पता नहीं रहता कि वह स्वयं किन-किन पूर्वाग्रहों के प्रभाव में है। इसलिए सत्य शोध करने के इच्छुक को विभिन्न पक्षों से विचार करने वाले विचारकों के मतों को भी अध्ययन करने और संतुलित निष्कर्ष निकालने का अभ्यास करना चाहिए। विवेक इसी प्रकार तीव्र होता है। न्यायाधीश का न्याय और विज्ञान की प्रगति इसी आधार पर संभव हुई है। इसीलिए सत्पुरुष परामर्श लेने तथा उदारतापूर्वक भूल

२.१६ प्रज्ञोपनिषद्

सुधार करने के अभ्यस्त होते हैं।

यथार्थं च परिज्ञातुं तर्कं तथ्यं प्रमाणकम्।
अन्वेष्टुमुभयोः पक्षे विचारः कर्तुमिष्यते ॥ २२ ॥
तदैव शक्यते ज्ञातुं विद्यते का यथार्थता।
प्रयुञ्जते बुद्धिमेनां न्यायाधीशा विशेषतः ॥ २३ ॥
शृण्वंत्युभयवार्ता ते पक्षयोः कुर्वते तथा।
यत्नं तथ्यं तल्लब्धुमावेशेऽज्ञानतोऽपि वा ॥ २४ ॥
बलादपि च यत्प्रोक्तं पक्षपातं धिया नहि।
तत्र ध्यानं प्रकुर्वीत तत्त्वजिज्ञासवः क्वचित् ॥ २५ ॥
गृह्यते नीतिरेषैव यदा तर्हि तु संभवम्।
यथार्थता परिज्ञानं सत्यं द्रष्टुं च वस्तुतः ॥ २६ ॥

टीका—यथार्थता को जानने के लिए तर्क, तथ्य और प्रमाण ढूँढ़ने का उभयपक्षीय प्रतिवेदन पर विचार करना पड़ता है। तब कहीं पता चलता है कि यथार्थता क्या है? न्यायाधीश इसी बुद्धि का प्रयोग करते हैं। दोनों पक्षों की बात सुनते हैं। तथ्य तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। आवेश या अज्ञान में तथा बलपूर्वक पक्षपात के कारण जो कहा गया है, तत्त्वजिज्ञासु उस पर ध्यान नहीं देते। यही नीति अपनाने पर यथार्थता समझ सकना संभव होता है और सत्य के दर्शन होते हैं ॥ २२-२६ ॥

व्याख्या—सत्य तक पहुँचने के लिए न्यायाधीश की तरह विभिन्न पक्षों के तर्क, तथ्य, प्रमाण सुनने समझने का सुझाव ऋषि ने दिया है। परंतु सावधान भी किया है कि तीन स्थिति वालों के कथन को निर्णय का आधार नहीं बनाना चाहिए।

(१) आवेशग्रस्त द्वारा दिए गए तथ्य प्रामाणिक नहीं होते। आवेशग्रस्त स्थिति ही असंतुलन की है। असंतुलन को आधार बनाकर संतुलित निर्णय हो ही नहीं सकता, इसीलिए सत्य शोधक को आवेशग्रस्त मनोभूमि में किसी निर्णय पर नहीं पहुँचना चाहिए।

(२) अज्ञान में कई बार लोग ऐसी बातें कह जाते हैं जो उनके स्वयं के खिलाफ पड़ जाती हैं। जानकारी पूरी न हो तो सत्य शोधक को निर्णय लेने से पूर्व कुछ चिंतन कर लेना चाहिए।

(३) बलपूर्वक पक्षपात, किसी लोभ, भय या किसी अहसान के दबाव में दिए गए विवरण प्रामाणिक नहीं होते। सही निर्णय लेने के लिए साधक को ऐसी दबाव भरी मनःस्थिति के बाहर आने का प्रयास करना चाहिए।

कौण्डिन्य उवाच

दृश्यते प्राय एवात्र महाभाग ! बुधा अपि।
हानिलाभस्थितिज्ञा न हितं चिन्वन्ति दूरगम् ॥ २७ ॥
कुर्वते भ्रमतश्चात्र निर्णयं विपरीतगम्।

कथमेतद् भवत्यस्माद् विवेकी रक्ष्यतां कथम् ॥ २८ ॥

टीका—कौण्डिन्य ने कहा, हे महाभाग देखा गया है कि अपना हानि-लाभ पहचानने वाले समझदार व्यक्ति भी दूरगामी हितों को नहीं पहचान पाते, भ्रम में गलत निर्णय ले बैठते हैं, ऐसा क्यों होता है? और ऐसी भूलों से विवेकवान का बचाव कैसे होता है? ॥ २७-२८ ॥

आश्वलायन उवाच

दूरदर्शित्वभावोऽपि विवेकस्यार्थतां गतः।
न च वस्तुपरिज्ञानमात्रं तस्यार्थं इष्यते ॥ २९ ॥
विवेकबुद्धिरादत्ते परिणामान् सुदूरगान्।
प्रारंभे हानिमादाय भविष्यत्यधिको यदि ॥ ३० ॥
लाभः समर्थनं तस्य कर्मणः कुरुतेऽत्र च।
लाभदानि प्रतीयन्ते कार्याण्यादौ झटित्यल्म ॥ ३१ ॥
दुःखदानि तथांते च जायन्ते कानिचित्तथा।
आदौ कष्टप्रदायन्ते सुखदानि भवन्ति च ॥ ३२ ॥
एतादृश - प्रसंगेषु भ्रांतिग्रस्ता भवन्ति ते।
अदूरदर्शिनो ये तु लाभं पश्यन्ति चादिमम् ॥ ३३ ॥
तदर्थं महतीं हानिं भविष्यत्कालजां त्विमे।
प्राप्नुवन्ति नरा येनाभ्युदयं नोपयांति ते ॥ ३४ ॥

टीका—आश्वलायन बोले, विवेक का तात्पर्य दूरदर्शिता भी है। वह मात्र समझदारी तक ही सीमित नहीं है। विवेकवान दूरगामी परिणामों को भी देखते हैं और आरंभ में तनिक सी हानि उठाकर भविष्य में यदि अधिक लाभ की संभावना हो, तो उसका समर्थन भी करते हैं। कई काम तत्काल तो लाभदायक प्रतीत होते हैं, किंतु अंत में दुःख देते हैं। कुछ आरंभ में तो कष्टकर लगते हैं, किंतु उनका परिणाम अंततः सुखद होता है। ऐसे प्रसंगों में अदूरदर्शी तो भ्रमग्रस्त होते हैं और तत्काल लाभ के लिए भविष्य में बड़ी हानि उठाते हैं, साथ ही अभ्युदय को भी प्राप्त नहीं हो पाते ॥ २९-३४ ॥

व्याख्या—समझदारी की परिभाषा यहाँ सही परिपेक्ष्य में समझना अनिवार्य है। तथाकथित समझ के धनी बुद्धिमान तो समाज में अनेकों व्यक्ति देखे जाते हैं, किंतु विवेकशीलता की पूरक दूरदर्शिता का उनमें नितांत अभाव होता है। बहुसंख्य व्यक्ति इसी में आते हैं। मनुष्य जीवन जितनी कठिनाई से मिलता है उतना ही दुष्कर है, अपने दूरगामी हितों को भली-भाँति पहचानकर अपने क्रियाकलापों को तदनुसार नियोजित करना। चासनी में लिपटकर प्राण गँवाने वाली मक्खी की तरह तात्कालिक आकर्षण तो मायाजाल से भरे इस संसार में पग पग पर विद्यमान हैं। उनसे स्वयं को बचाना एक बहुत बड़ा पराक्रम पुरुषार्थ है। मनुष्य को वह समझ, जिसे विवेक नाम दिया गया है, से भली-भाँति संपन्न बनाकर सृजेता ने उसे अपना मुकुटमणि बनाकर इस जगती पर भेजा है। अन्यान्य

जीवों को यह विशेषता प्राप्त नहीं है। फिर यह क्यों होता है कि उसकी इस दुर्लभ निधि समझ पर भी समय-समय पर पर्दा पड़ता रहता है एवं प्रगति के स्थान पर अवनति की ओर पतन के गर्त में लुढ़कने लगता है। प्रस्तुत प्रसंग में इसी जिज्ञासा को उठाया व सत्राध्यक्ष द्वारा उसके समाधान का प्रयास किया गया है।

वस्तुतः विवेक की सामान्य समझदारी तक ही सीमित नहीं माना गया है। समझ तो सभी प्राणियों में होती है। भक्ष्य-अभक्ष्य सभी पहचानते हैं। अपने-पराए बच्चों की पहचान भी सभी कर लेते हैं। किससे उनको हानि हो सकती है, यह भी सभी जीव समझते हैं। पर विवेक तो दूरगामी परिणामों पर विचार करके तदनुसार निर्धारण को कहते हैं। मनुष्य ने प्रगति विवेक के आधार पर की है। साधना, अनुशासन, व्यवस्था, तंत्र यह सब विवेक के आधार पर ही विकसित हुए हैं। तत्काल के आकर्षणों को छोड़कर स्थायी लाभ इसी आधार पर मिल जाते हैं।

विवेकिनः परं ये तु लघ्वीं हानिं विलोक्य ते।

हानिमादिसमुद्भूतां स्वीकृत्यापि प्रयोजने ॥ ३५ ॥

शोभने लग्नचित्ताश्च मोदन्ते परिणामतः।

व्यवसायरता मल्ला कृषका वा यथा च ते ॥ ३६ ॥

विद्यार्थिनस्तपोवेषा मालाकारा अथापि च।

एतेषां धैर्यमेवैतान् कुरुते लक्ष्यगान् सदा ॥ ३७ ॥

टीका—जो विवेकवान हैं, वे तुरंत ही छोटी हानि को देखकर कृषक, माली, विद्यार्थी, व्यवसायी, पहलवान की तरह आरंभिक घाटा एवं कष्ट सहकर भी सत्प्रयोजनों में लगे रहते हैं और अंत में उस प्रयास के सत्परिणाम का आनंद लेते हैं। इनका धैर्य ही इन्हें लक्ष्य तक पहुँचाता है ॥ ३५-३७ ॥

व्याख्या—विवेक का लक्षण है तत्काल के लाभ के आकर्षण अथवा प्रारंभिक कष्ट के भय से श्रेष्ठतम उपलब्धियों की ओर बढ़ने से रुके नहीं। इसके लिए दूरदर्शिता के साथ सुनियोजन की भी आवश्यकता पड़ती है। कृषक, माली, विद्यार्थी, व्यवसाई और पहलवान आदि इसी कोटि के साधक होते हैं। कृषक भूखा होने पर भी पास में रखे हुए बीज बोने के अन्न को खाने के आकर्षण से बचा रहता है। बीज को मिट्टी में डालते समय प्रत्यक्ष हानि दिखती है, श्रम भी बहुत पड़ता है, पर फसल के लिए वह यह सब स्वीकार करता है, तभी फसल पाता है। माली कृषक की तरह सर्दी गर्मी भूल कर पौधों को लगाता और पालता-पोसता है। अपने ही लगाए पौधों को एक स्थान से उखाड़ना दूसरी जगह लगाना बेकार का श्रम-सा दीखता है। अपने लगाए, पोसे पौधों को कैची से काटना बेदरदी का काम दीखता है, परंतु बगीचे की सुंदरता, पौधों की सुसज्जा इसी से उभरती है।

अदूरदर्शिनो जाले स्पशित्वा लोभसंगताः।

विहगानां च मत्स्यानां गतिं गच्छन्ति मानवाः ॥ ३८ ॥

ते स्मरन्ति न लोभेन जायमानां सुदुर्गतिम्।

शार्करेष्वप्सु गच्छन्त्या मक्षिकाया अपीडृशी ॥ ३९ ॥

दुर्गतिर्जायते यस्मादुचितानुचितस्थितिम्।

सत्यासत्यविवक्तिं च विवेकः कुरुते स्वयम् ॥ ४० ॥

भिनभ्यस्ता जना अत्र प्रवाहे वहदेव तत्।

असत्यं सत्यरूपेण गृह्णन्ति भ्रममोहिताः ॥ ४१ ॥

स्वयं तिष्ठन्ति तेऽन्यांश्च तथैवोपदिशन्त्यपि।

बहवः किं नराः कार्यं कुर्वन्ते चिंतयन्ति किम् ॥ ४२ ॥

टीका—अदूरदर्शी जाल में फँसने वाली मछली चिड़िया की तरह प्रलोभन कर आतुर होकर यह भूल जाते हैं कि अंधा लालच क्या हानि करता है? चासनी पर टूट पड़ने वाली मक्खी की भी ऐसी ही दुर्गति होती है। विवेक ही उचितानुचित का सत्यासत्य का निर्णय कर पाता है, अन्यथा अभ्यस्त प्रवाह में बहने वाले तो असत्य को ही सत्य मान लेते हैं। अधिकांश लोग क्या करते और क्या सोचते हैं, इसी भ्रम में मोहित वे स्वयं भी भ्रमित हो जाते हैं और दूसरों को भी भ्रमित करते हैं ॥ ३८-४२ ॥

व्याख्या—मनुष्य के लिए बिना विवेक की शरण लिए यह निर्णय लेना कठिन हो जाता है कि कौन-सा रास्ता अनुकरणीय है। दैनिक जीवन में जो भी घटनाक्रम देखने में आते हैं, उनमें अभ्यस्त ढर्रा ही दृष्टिगोचर होता है। यदा-कदा अपवाद रूप में कहीं कोई औचित्य के रूप में वरण करने योग्य प्रसंग होता भी है तो विवेक बुद्धि के अभाव में उसे पहचान पाने में सामान्य मनुष्य असमर्थ ही रहते हैं। यह तथ्य मोटे तौर से अधिकांश जनमानस पर लागू होता देखा जा सकता है।

ढर्रे के चिंतन के कारण ही मनुष्य एक प्रकार के स्वसम्मोहन के शिकार देखे जाते हैं, जिसमें जो कुछ भी अपने आस-पास घट रहा है उसमें काट-छाँट किए बिना हंस की तरह नीर-क्षीर विवेक अपनाए बिना भेड़चाल अपनाता उन्हें सरल, सुविधाजनक प्रतीत होता है। ढर्रे को तोड़ना, मछली के धारा को चीरकर उलटा चल देने के समान है। ऐसा साहस बहुधा देखने में नहीं आता।

आधारमिममाश्रित्य सत्यासत्यविनिर्णयः।

भवितुं युज्यते नात्र नृगरिम्णोऽनुकूलगम् ॥ ४३ ॥

किमिहास्ति समावेश आदर्शित्वस्य कुत्र सः।

सत्यस्योत्कृष्टतायाश्च त्वसत्यास्ति विवेचनम् ॥ ४४ ॥

एतदाश्रित्य कर्त्तव्यं भवतीह परीक्ष्यताम्।

तर्कप्रमाणशाणे तदौचित्यं हेम नान्यथा ॥ ४५ ॥

टीका—सत्य असत्य का निर्णय इस आधार पर करना

२.१८ प्रज्ञोपनिषद्

चाहिए कि मानवी गरिमा के अनुरूप क्या है? आदर्शवादिता का समावेश किसमें है? सत्यासत्य की विवेचना इसी उत्कृष्टता के आधार पर होनी चाहिए। तर्क और प्रमाण की ऐसी कसौटी बनानी चाहिए जिससे सत्य रूपी स्वर्ण की सही परीक्षा हो सकना संभव हो ॥ ४३-४५ ॥

व्याख्या—पिछले प्रतिपादनों में प्रचलित ढर्रे में न बहने की सलाह दी गई थी। सत्यानुयायी जन-प्रवाह को नहीं मानवीय गरिमा और आदर्शवादिता के पक्ष में तर्क ही तथ्य की कसौटी को प्रयोग करते हैं। सत्य की ही नहीं, सत्य पथ के पथिक की परीक्षा भी इसी कसौटी पर होती है। जनप्रवाह के वेग में असुविधाओं और यश के आकर्षणों की अग्नि परीक्षा में से सत्य का साधक केवल उत्कृष्ट आदर्शों के पक्ष में निर्णय लेता हुआ अपने खरे होने का प्रमाण देता है।

राजहंस इव क्षीरनीरयोर्निश्चयं नरः।

कुर्याद् यत् तदुत्कृष्टं गृह्यतां हर्षपूर्वकम् ॥ ४६ ॥

उष्णता च प्रकाशश्च यथा सूर्ये गुणावुभौ।

समन्वयस्तथा सत्ये प्रवृत्त्योस्तु द्वयोरपि ॥ ४७ ॥

यथार्थता च तत्रैका न्यायनिष्ठमिदं तथा।

दूरदर्शित्वमन्या सा प्रवृत्तिर्मङ्गलोन्मुखी ॥ ४८ ॥

समन्वयोऽनयोः पूर्णसत्यमत्राभिधीयते।

यदेकांगगतं तच्चापूर्णमेवाभिमन्यताम् ॥ ४९ ॥

टीका—मनुष्य को राजहंस की तरह नीर-क्षीर विवेक करना चाहिए और जो उत्कृष्ट है, उसी को हठपूर्वक ग्रहण करना चाहिए। जिस प्रकार सूर्य में गर्मी और रोशनी दो गुण हैं, उसी प्रकार सत्य में दो प्रवृत्तियों का समन्वय है, एक यथार्थता दूसरी मंगलोन्मुख न्यायनिष्ठ दूरदर्शिता। इन दोनों का समन्वय ही पूर्ण सत्य है, एकांगी तो अधूरा रहता है ॥ ४६-४९ ॥

व्याख्या—सत्य के एक पक्ष यथार्थ को तो मनुष्य जल्दी पकड़ लेता है। पर दूसरे पक्ष लोक हितकारी न्यायनिष्ठा, दूरदर्शिता को कम ही लोग पकड़ पाते हैं। ऋषि कहते हैं कि उसके बिना सत्य अधूरा रह जाता है। दूरदर्शिता ऐसी जिसमें न्याय और लोकमंगल सधता हो, बड़े प्रयत्न से आती है। उसके लाभ भी बहुत हैं, मानव को महामानव वही बनाती है, परंतु उसके मुकाबले में आकर्षण और भ्रम भी कम नहीं आते। उनसे बचने के लिए उस उत्कृष्ट वृत्ति को हठपूर्वक पकड़ने का सूत्र ऋषि समझा रहे हैं। सभी महापुरुषों ने ऐसा ही किया है। हंसवृत्ति भी यही है।

सत्य के उत्कृष्टता के साधक का आदर्श हंस और चातक होता है। हंस इस बात से प्रभावित नहीं होता कि किसने क्या खाया वह तो उत्कृष्टता के मोती चुगता है। वह न मिले तो उसे अभक्ष्य खाने की अपेक्षा लंघन मंजूर होता है। विवेक की

दृष्टि से तो उसका नीर-क्षीर विवेक प्रसिद्ध है ही।

चातक मात्र स्वाति बूंदों का ही पान करता है। हीन रसपान करने की अपेक्षा प्यासा रह जाना पसंद करता है। उत्कृष्टता के साधक ऐसे ही नैष्टिक होते हैं।

कौण्डिन्य उवाच

कृपालो मानवे पूर्ण सत्यं प्राप्तुं सदैव सा।

समीहा विद्यतेऽथापि शक्तिः पूर्णा च विद्यते ॥ ५० ॥

तथापि विकलं सत्यं कथमादाय तिष्ठति।

भवेद् विडंबनायाश्च कथं मुक्तिरिदं वद ॥ ५१ ॥

टीका—कौण्डिन्य ने कहा, हे कृपालु मनुष्य में पूर्ण सत्य प्राप्त करने की चाह भी है और सामर्थ्य भी, फिर भी वह एकांगी सत्य में उलझकर क्यों रह जाता है? इस विडंबना से मुक्ति कैसे मिले? कृपया यह रहस्य स्पष्ट करें ॥ ५०-५१ ॥

व्याख्या—किसी भी उपलब्धि के लिए इच्छा और सामर्थ्य यह दो महत्वपूर्ण आधार माने जाते हैं। मनुष्य में यह दोनों होते हुए भी उसे अभीष्ट उपलब्धि क्यों नहीं होती, यह रहस्य कौण्डिन्य जानना एवं इस प्रतिपादन से अन्य उपस्थित साधकों को लाभांशित कराना चाहते हैं।

मनुष्य पूर्णतः चाहता है इसका प्रमाण हर कदम पर मिलता है। उसे उसके बिना संतोष नहीं मिलता। चाहे विज्ञान के माध्यम से हो, चाहे दर्शन के माध्यम से, वह सृष्टि के रहस्य स्पष्ट करने पर तुला रहता है।

सामर्थ्य में मनुष्य की समता कोई प्राणी नहीं कर सकता, यह सर्वमान्य है। रामचरित मानस में लिखा है।

नर तन सम नहिं कवनिऊ देही।

जीव चराचर जाँचत जेही ॥

शास्त्रों के अनुसार देवता भी मनुष्य शरीर में इसलिए आना चाहते हैं कि सत्य की जिस गहराई तक जाने की सामर्थ्य मनुष्य में है, वह किसी अन्य देहधारी में नहीं।

एक रोचक प्रसंग मिलता है कि सिकंदर ने सिंध के ब्राह्मणों से कुछ बेढब प्रश्न पूछे थे। उद्देश्य था उनकी मानसिक क्षमता की परीक्षा लेना। उसमें एक प्रश्न था सबसे बुद्धिमान जीव कौन है? विद्वान ने उत्तर दिया वह जो मनुष्य की निगाह से बचा है।

भाव यह था, कि जितने भी जीव मनुष्य की निगाह में आए, उसने सभी को अपने नियंत्रण में ले लिया। उसके नियंत्रण के बाहर वही रह सकता है जो उसकी निगाह से बच जाए। अर्थात् मनुष्य की सामर्थ्य का कोई मुकाबला नहीं।

पुरुषों में अनेक प्रसंग हैं जब देवताओं में शर्त लगी, मनुष्य की परीक्षा ली गई। लंबे से लंबे संघर्ष के बाद मनुष्य ने अपनी श्रेष्ठता सिद्ध की और देवताओं ने उनकी सराहना

की, अभिनंदन किया। देव शक्तियाँ भी मनुष्य की सामर्थ्य के सामने नतमस्तक होती रही हैं।

ऐसा मनुष्य एकांगी सत्य में ही फँसकर क्यों रह जाता है यहाँ पर यही जिज्ञासा ऋषि द्वारा व्यक्त की गई है।

आश्वलायन उवाच

सत्यं नारायणः साक्षादसीमश्चापि विद्यते।

सीमिता च मनुष्याणां बुद्धिराग्रहिणी लघुः ॥ ५२ ॥

अंशो ज्ञातस्तया नूनमेक एवाधुनाऽपि च।

शेषं ज्ञेयं च यत्तत्तु विद्यतेऽत्यधिकं ततः ॥ ५३ ॥

मनुष्यः सत्यसंप्राप्तयै क्रमशोऽभ्यक्रमीदिह।

साफल्यमंशतश्चापि तत्र सोऽध्यगमत्तथा ॥ ५४ ॥

अपर्याप्तानि मनुं च ज्ञानानि स्वस्यतानि वा।

पूर्वजानां स्वकानां न लघुतावहमस्ति तु ॥ ५५ ॥

टीका—आश्वलायन जी बोले, सत्य ही नारायण है। नारायण असीम है और मानवी बुद्धि सीमित है, वह विविध आग्रहों से और भी छोटी हो गई है। उसने अब तक सत्य का एक अंश ही जाना है, जो जानना शेष है, वह कहीं अधिक है। मनुष्य क्रमशः सत्य की प्राप्ति के लिए क्रमिक यात्रा करता रहा है और आंशिक सफलता प्राप्त करता रहा है। पिछली जानकारी को अपर्याप्त मानने में अपनी या पूर्वजों की कोई हेठी नहीं है ॥ ५२-५५ ॥

व्याख्या—मनुष्य अपने क्षेत्र में समग्र है, किंतु विराट के स्तर पर बहुत ही सीमित। वह किसी न किसी काल और क्षेत्र में बँधा रहता है, इसलिए उसी परिधि के सत्य समझ सकता है। वह भी तब, जब दिमाग को खुला रखा हो। उसे यदि आग्रहों के दायरे में सीमित रख छोड़ा है, तो अपने काल और क्षेत्र के अनुरूप भी सत्य को पकड़ नहीं पाता।

प्रत्येक पीढ़ी की अपनी काल-परिधि होती है। उस परिधि से बाहर निकलने पर सत्य के नए आयाम सामने आते हैं। जिनके सामने वह आयाम नहीं आए उन्होंने उसे मान्यता नहीं दी, तो कोई दोष नहीं हुआ। परंतु पूर्व जानकारी को सब कुछ मान लेने पर नए आयामों की उपेक्षा होती है, तो वह शेष है।

बाल्ये वस्त्राणि यान्येष परिधत्ते शिशुः सदा।

तानि प्रौढे न गृह्णाति कोऽपि काले विनिर्गते ॥ ५६ ॥

देशकालानुरूपेण यदीत्थं ताः परंपराः।

स्वीकृता भिन्नरूपेण तत्र नो विग्रहादिकम् ॥ ५७ ॥

विद्यते सर्व एवैते धर्मात्मानो विदंतु तत्।

तथ्यं गृह्णन्तु सत्यं च विवेकं हितमात्मनः ॥ ५८ ॥

टीका—बालकपन में जो वस्त्र पहने जाते हैं, समय बीत जाने पर प्रौढ़ावस्था में उन्हें कोई नहीं पहनता। इस प्रकार यदि देशकाल के अनुरूप परंपराएँ भिन्न प्रकार से अपनाई

गई हों, तो उसमें विग्रह जैसी कोई बात नहीं है। सभी धर्म प्रेमियों को तथ्य समझना और सत्य तथा विवेक को अपनाना ही उचित है, चूँकि इसमें उनका अपना भी कल्याण है ॥ ५६-५८ ॥

व्याख्या—परंपरा की भिन्नता का प्रश्न सामने आने पर बहुधा विग्रह उठ जाते हैं। एक परंपरा का अभ्यस्त व्यक्ति दूसरी परंपरा वाले को हीन भाव से देखने का प्रयास करता है। परंतु सत्य और विवेक को देखना चाहिए कि किन्हीं परिस्थिति विशेष में कोई खास परंपरा उचित रही। जितने अंशों में परिस्थितियाँ बदलीं, उतने अंशों में परंपराओं में परिशोधन कर लेने में न किसी धर्म का उल्लंघन होता है और न किसी निष्ठा का हनन होता है। इससे तो औचित्य को परिपोषण मिलता और विकासक्रम आगे बढ़ता है।

वार्ता काऽपि चचालायमितिहासो नृणां क्रमात्।

अस्मादेव न चान्योऽस्ति पंथा विज्ञात उत्तमः ॥ ५९ ॥

प्राप्तज्ञानस्य लाभं च विदन्तोऽतो यदस्ति च।

अज्ञातं ज्ञातुमेवादः प्रयासोऽपि विधीयताम् ॥ ६० ॥

इतिहासं च सम्मान्य भविष्यन्निर्मितिस्तथा।

निर्धारणस्य हेतोश्चाऽपिहिता बुद्धिरिष्यते ॥ ६१ ॥

तत्त्वज्ञानस्य सिद्धांतस्त्वयमेव हि विद्यते।

आधारमिममाश्रित्य विज्ञानं जुम्भितं स्वयम् ॥ ६२ ॥

यथास्थानं स्वपादौ च स्थिरौ यैर्विहितौ नरैः।

प्रगतेः पथि यातुं च शक्यं नाग्रहिभिस्तु तैः ॥ ६३ ॥

टीका—मानवी प्रगति का इतिहास क्रम से चला है और इससे भिन्न कोई उत्तम मार्ग विदित भी नहीं है। अतः उपलब्ध जानकारी का लाभ उठाते हुए भी जो अविज्ञात है, उसे समझने का प्रयास करें। इतिहास का सम्मान करते हुए भी भविष्य में निर्माण एवं निर्धारण के लिए मस्तिष्क खुला रहे। तत्त्वज्ञान का सिद्धांत यही है। विज्ञान इसी आधार पर विकसित हुआ है। पैरों को यथास्थान जमाए रखने के आग्रही प्रगति पथ पर अग्रसर नहीं हो सकते ॥ ५९-६३ ॥

व्याख्या—व्यवधान या विघ्न बाधा उपस्थित होने पर भी अपने उद्देश्य से विचलित न होना दृढ़ता का प्रमाण है। परंतु अपने दृढ़ता सिद्ध करने के प्रयास में व्यक्ति प्रगति ही न करे, यह कोई समझदारी नहीं हुई। विचारों की दृढ़ता और बात है तथा विचारों की जड़ता उससे भिन्न है। जड़ता अपने से भिन्न कुछ सुनना नहीं चाहती, दृढ़ता बिना विवेक की कसौटी पर कसे किसी भी बात को यों ही स्वीकार नहीं कर लेती।

प्रस्तुत जानकारी का लाभ उठाते हुए जानकारी बढ़ते चलने के क्रम से ही तत्त्वज्ञान, विज्ञान, सभ्यता सभी का विकास हुआ है। इस क्रम को रुकने नहीं देना चाहिए। प्रत्येक फैक्ट्री सफल उत्पादन के साथ उसमें नए सुधारों पर

२.२० प्रज्ञोपनिषद्

शोध करती रहती है। नई दृष्टि देने वालों को यह कहकर अपमानित नहीं किया जाता कि तुम पिछले उत्पादन का महत्त्व घटा रहे हो। बल्कि प्रोत्साहन देकर अपने उत्पादन का स्तर बढ़ाया जाता है।

मन्तव्यं धर्ममूलं च सत्यमेवाप्तुमप्यतः ।

अतिरिक्ताश्च भिन्नास्ता ज्ञातुं वाञ्छाऽस्तु मान्यता ॥ ६४ ॥

औचित्यस्य यथार्थस्य दिशायामभियातृभिः ।

निष्पक्षस्याधिगंतव्यो न्यायस्याश्रय उत्तमैः ॥ ६५ ॥

ज्ञानं चेदृशमेवात्र मनुष्यं सत्यमार्गणे ।

करोत्यग्रेसरं येन पूर्णलक्ष्याप्तिसंभवः ॥ ६६ ॥

पुरुषा आग्रहिणः स्वं च सीमाबंधनमेव तु ।

सर्वस्वं मन्यमाना हि भजन्ते हि दुराग्रहम् ॥ ६७ ॥

दूरं सत्यात्समग्राच्च तिष्ठन्त्येव निरंतरम् ।

विवेकालंबनं तस्मात्सत्याप्त्यै ध्रुवमिष्यते ॥ ६८ ॥

टीका—धर्म के मूल स्वरूप को सत्य माना जाए। इसके अतिरिक्त अन्यान्य मान्यताओं के संबंध में अधिक जानने की इच्छा रखी जाए। औचित्य और यथार्थ की दिशा में बढ़ते हुए उत्तम पुरुषों के द्वारा निष्पक्ष न्याय का आश्रय लिया जाए। ऐसा विवेक ही मनुष्य को सत्य की खोज में अग्रसर करता है। पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँच सकना इसी प्रकार संभव हो पाता है। आग्रही अपने सीमा बंधन को ही सब कुछ मानकर

उसका हठ करते हैं और समग्र सत्य से दूर ही बने रहते हैं। इसलिए विवेक का अवलंबन सत्य की प्राप्ति के लिए अनिवार्य माना गया है ॥ ६४-६८ ॥

व्याख्या—वेदांत का प्रथम सूत्र है अथातो ब्रह्मजिज्ञासा अब ब्रह्म की जिज्ञासा करते हैं। जिज्ञासा, नया जानने की इच्छा प्रत्येक प्रगति का आधार रही है। विवेकवान जानने योग्य की खोज और वरण का क्रम सतत बनाए रखते हैं।

आरोचतेदं सर्वेभ्यो विवेचनमिहाद्भुतम् ।

भ्रांतेभ्यो विकृतारीतीः प्रति चाग्रहिणस्तु ये ॥ ६९ ॥

तेभ्यः याथार्थ्यबोधाय सर्वैरनुमितं त्विदम् ।

दूरदर्शित्वयुक्ताश्च प्राप्तुं वै ज्ञानशीलता ॥ ७० ॥

अनिवार्यं विधातुं च लोकमानसमुन्नतम् ।

नियते समये सत्रं समाप्तिं तदगादलम् ।

हर्षिता धर्ममासाद्य संप्रदायतिरोहितम् ॥ ७१ ॥

टीका—आज का विवेचन सभी को बहुत सुहाया। भ्रांतियों और विकृतियों के प्रति आग्रही लोगों को यथार्थता समझाने के लिए सभी ने अनुमान किया कि दूरदर्शी विवेकशीलता को अपनाने के लिए उन्नत लोक मानस बनाना आवश्यक है। सत्र नियत समय पर विधिवत् समाप्त हो गया। सभी लोग संप्रदायों की चहारदीवारी में बँटे-छिपे धर्म को जानकर अतीव प्रसन्न हुए ॥ ६९-७१ ॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः

श्री आश्वलायन कौण्डिन्य ऋषिसंवादे 'सत्य-विवेक', इति प्रकरणो नाम

॥ तृतीयोऽध्यायः ॥